श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

कपिल गीता अध्याय(3.31)



वर्णन करने सांख्य योग का, और देने को ज्ञान ।
गुरु रूप में कपिल मुनि थे, देवहूति शिष्य समान।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।
देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्
तृतीयं स्कंधः
॥ अथ एकत्रिं(म्)शोऽध्यायः ॥

श्रीभगवानुवाच
कर्मणा दैवनेत्रेण, जन्तुर्देहोपपत्तये ।
स्त्रियाः(फ्) प्रविष्ट उदरं(म्), पुं(म्)सो रेतः(ख्) कणाश्रयः ॥ 1॥

श्रीभगवान् कहते हैं- माताजी। जब जीवको मनुष्य-शरीरमें जन्म लेना होता है, तो वह भगवान् की प्रेरणासे अपने पूर्वकर्मानुसार देहप्राप्ति के लिये पुरुषके वीर्यकणके द्वारा स्त्रीके उदरमें प्रवेश करता है।

कललं(न्) त्वेकरात्रेण, पञ्चरात्रेण बुद्बुदम् ।
दशाहेन तु कर्कन्धूः(फ्), पेश्यण्डं(वँ) वा ततः(फ्) परम् ॥ 2॥

वहाँ वह एक रात्रिमें स्त्रीके रजमें मिलकर एकरूप कलल बन जाता है, पाँच रात्रिमें बुद्बुदरूप हो जाता है, दस दिनमें बेरके समान कुछ कठिन हो जाता है और उसके बाद मांसपेशी अथवा अण्डज प्राणियोंमें अण्डेके रूपमें परिणत हो जाता है।

मासेन तु शिरो द्वाभ्यां(म्), बाह्वङ्घ्र्याद्यङ्गविग्रहः ।

नखलोमास्थिचर्माणि, लिङ्गच्छिद्रोद्भवस्त्रिभिः ॥ 3॥

एक महीनेमें उसके सिर निकल आता है, दो मासमें हाथ-पाँव आदि अङ्गोका विभाग हो जाता है और तीन मासमें नख, रोम, अस्थि, चर्म, स्त्री-पुरुषके चिह्न तथा अन्य छिद्र उत्पन्न हो जाते हैं ।

चतुर्भिर्धातवः(स्) सप्त, पञ्चभिः(ह) क्षुत्तृडुद्भवः ।

षड्भिर्जरायुणा वीतः(ङ्), कुक्षौ भ्राम्यति दक्षिणे ॥ 4॥

चार मासमें उसमें मांसादि सातों धातुएँ पैदा हो जाती हैं, पाँचवें महीने में भूख-प्यास लगने लगती हैं और छठे मासमें झिल्लीसे लिपटकर वह दाहिनी कोखमें घूमने लगता है।

मातुर्जग्धान्नपानाद्यै- रेधद्धातुरसम्मते ।

शेते विण्मूत्रयोर्गर्ते, स जन्तुर्जन्तुसम्भवे ॥ 5॥

उस समय माताके खाये हुए अन्न-जल आदिसे उसकी सब धातुएँ पुष्ट होने लगती हैं और वह कृमि आदि जन्तुओंके उत्पत्तिस्थान उस जघन्य मल-मूत्रके गढ़ेमें पड़ा रहता है।

कृमिभिः(ह) क्षतसर्वाङ्गः(स्), सौकुमार्यात्प्रतिक्षणम् ।

मूर्च्छामाप्नोत्युरुक्लेशस्- तत्रत्यैः(ह) क्षुधितैर्मुहुः ॥ 6॥

वह सुकुमार तो होता ही है; इसलिये जब वहाँके भूखे कीड़े उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग नोचते हैं, तब अत्यन्त क्लेशके कारण वह क्षण-क्षणमें अचेत हो जाता है।

कटुतीक्ष्णोष्णलवण- रूक्षाम्लादिभिरुल्बणैः ।

मातृभुक्तैरुपस्पृष्टः(स्), सर्वाङ्गोत्थितवेदनः ॥ 7॥

माताके खाये हुए कड़वे, तीखे, गरम, नमकीन, रूखे और खट्टे आदि उग्र पदार्थोंका स्पर्श होने से उसके सारे शरीरमें पीड़ा होने लगती है।

उल्बेन संवृतस्तस्मिन्- नन्त्रैश्च बहिरावृतः ।

आस्ते कृत्वा शिरः(ख्) कुक्षौ, भुग्नपृष्ठशिरोधरः ॥ 8॥

वह जीव माताके गर्भाशयमें झिल्लीसे लिपटा और आंतों से घिरा रहता है। उसका सिर पेटकी और तथा पीठ और गर्दन कुण्डलाकार मुड़े रहते हैं ।

अकल्पः(स्) स्वाङ्गचेष्टायां(म्), शकुन्त इव पञ्जरे ।

तत्र लब्धस्मृतिर्दैवात्-कर्मजन्मशतोद्भवम् ।

स्मरन्दीर्घमनुच्छ्वासं(म्), शर्म किं(न्) नाम विन्दते ॥ 9॥

वह पिंजड़े में बंद पक्षीके समान पराधीन एवं अङ्गोको हिलाने- डुलानेमें भी असमर्थ रहता है। इसी समय अदृष्टकी प्रेरणासे उसे स्मरणशक्ति प्राप्त होती है। तब अपने सैकड़ों जन्मोंके कर्म याद आ जाते हैं और वह बेचैन हो जाता है तथा उसका दम घुटने लगता है। ऐसी अवस्थामें उसे क्या शान्ति मिल सकती है ?

आरभ्य सप्तमान्मासाल्- लब्धबोधोऽपि वेपितः ।

नैकत्रास्ते सूतिवातैर् -विष्ठाभूरिव सोदरः ॥ 10॥

सातवाँ महीना आरम्भ होनेपर उसमें ज्ञानशक्तिका भी उन्मेष हो जाता है परन्तु प्रसूतिवायुसे चलायमान रहनेके कारण वह उसी उदरमें उत्पन्न हुए विष्ठाके कीड़ोंके समान एक स्थानपर नहीं रह सकता ।

नाथमान ऋषिर्भीतः(स्), सप्तवध्रिः(ख्) कृताञ्जलिः ।

स्तुवीत तं(वँ) विक्लवया, वाचा येनोदरेऽर्पितः ॥ 11॥

तब सप्तधातुमय स्थूलशरीरसे बँधा हुआ वह देहात्मदर्शी जीव अत्यन्त भयभीत होकर दीन वाणीसे कृपा-याचना करता हुआ, हाथ जोड़कर उस प्रभुकी स्तुति करता है, जिसने उसे माताके गर्भमें डाला है।

जन्तुरुवाच

तस्योपसन्नमवितुं(ञ्) जगदिच्छयात्त-

नानातनोर्भुवि चलच्चरणारविन्दम् ।

सोऽहं(वँ) व्रजामि शरणं(म्) ह्यकुतोभयं(म्) मे,

येनेदृशी गतिरदर्श्यसतोऽनुरूपा ॥ 12॥

जीव कहता है— मैं बड़ा अधम हूँ; भगवान् ने मुझे जो इस प्रकारकी गति दिखायी है, वह मेरे योग्य ही है। वे अपनी शरण में आये हुए इस नश्वर जगत्की रक्षाके लिये ही अनेक प्रकारके रूप धारण करते हैं; अतः मैं भी भूतलपर विचरण करनेवाले उन्हींके निर्भय चरणारविन्दोंकी शरण लेता हूँ।

यस्त्वत्र बद्ध इव कर्मभिरावृतात्मा,

भूतेन्द्रियाशयमयीमवलम्ब्य मायाम् ।

आस्ते विशुद्धमविकारमखण्डबोध-

मात्मप्यमानहृदयेऽवसितं(न्) नमामि ॥ 13॥

जो मैं (जीव) इस माताके उदरमें देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणरूपा मायाका आश्रय कर पुण्य पापरूप कर्मोंसे आच्छादित रहनेके कारण बद्धकी तरह हूँ, वहीं मैं यहीं अपने सन्तप्त हृदयमें प्रतीत होनेवाले उन विशुद्ध (उपाधिरहित), अविकारी और अखण्ड बोधस्वरूप परमात्माको नमस्कार करता हूँ।

यः(फ्) पञ्चभूतरचिते रहितः(श्) शरीरेच्,

छन्नो यथेन्द्रियगुणार्थचिदात्मकोऽहम्।

तेनाविकुण्ठमहिमानमृषिं(न्) तमेनं(वँ),

वन्दे परं(म्) प्रकृतिपूरुषयोः(फ्) पुमां(म्)सम् ॥ 14॥

मैं वस्तुतः शरीरादिसे रहित (असङ्ग) होनेपर भी देखने में पाँचभौतिक शरीरसे सम्बद्ध हूँ और इसीलिये इन्द्रिय, गुण, शब्दादि विषय और चिदाभास (अहङ्कार)-रूप जान पड़ता हूँ। अतः इस शरीरादिके आवरण से जिनको

महिमा कुण्ठित नहीं हुई है, उन प्रकृति और पुरुषके नियन्ता सर्वज्ञ (विद्याशक्तिसम्पन्न) परमपुरुषकी मैं वन्दना करता हूँ ।

यन्माययोरुगुणकर्मनिबन्धनेऽस्मिन्,
सां(म्)सारिके पथि चरं(म्)स्तदभिश्रमेण ।
नष्टस्मृतिः(फ्) पुनरयं(म्) प्रवृणीत लोकं(यँ),
युक्त्या कया महदनुग्रहमन्तरेण ॥ 15॥

उन्हींकी मायासे अपने स्वरूपकी स्मृति नष्ट हो जानेके कारण यह जीव अनेक प्रकारके सत्त्वादि गुण और कर्मके बन्धनसे युक्त इस संसारमार्ग में तरह-तरहके कष्ट झेलता हुआ भटकता रहता है; अतः उन परमपुरुष परमात्मा की कृपा के बिना और किस युक्तिसे इसे अपने स्वरूपका ज्ञान हो सकता है।

ज्ञानं(यँ) यदेतददधात्कतमः(स्) स देवस्-
त्रैकालिकं(म्) स्थिरचरेष्वनुवर्तितां(म्)शः ।
तं(ञ्) जीवकर्मपदवीमनुवर्तमाना-
स्तापत्रयोपशमनाय वयं(म्) भजेम ॥ 16॥

मुझे जो यह त्रैकालिक ज्ञान हुआ है, यह भी उनके सिवा और किसने दिया है; क्योंकि जंगम समस्त प्राणियों में एकमात्र वे ही तो अन्तर्यामीरूप अंशसे विद्यमान है। अतः जीवरूप कर्मजनित पदवीका अनुवर्तन करनेवाले हम अपने त्रिविध तापोंको शान्तिके लिये उन्हींका भजनकरते हैं ।

देह्यन्यदेहविवरे जठराग्निनासृग्-
विण्मूत्रकूपपतितो भृशतप्तदेहः ।
इच्छन्नितो विवसितुं(ङ्) गणयन् स्वमासान्,
निर्वास्यते कृपणधीर्भगवन् कदा नु ॥ 17॥

भगवन् ! यह देहधारी जीव दूसरी (माताके) देहके उदरके भीतर मल, मूत्र और रुधिरके कुएँ में गिरा हुआ है, उसकी जठराग्निसे इसका शरीर अत्यन्त सन्तप्त हो रहा है। उससे निकलनेकी इच्छा करता हुआ यह अपने महीने गिन रहा है। भगवन्! अब इस दीनको यहाँसे कब निकाला जायगा ?

येनेदृशीं(ङ्) गतिमसौ दशमास्य ईश,
सं(ङ्)ग्राहितः(फ्) पुरुदयेन भवादृशेन ।
स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः(ख्),
को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात् ॥ 18॥

स्वामिन्! आप बड़े दयालु हैं, आप-जैसे उदार प्रभुने ही इस दस मासके जीवको ऐसा उत्कृष्ट ज्ञान दिया है। दीनबन्धो ! इस अपने किये हुए उपकारसे ही आप प्रसन्न हों; क्योंकि आपको हाथ जोड़नेके सिवा आपके उस उपकारका बदला तो कोई दे भी क्या सकता है।

पश्यत्ययं(न्) धिषणया ननु सप्तवह्निः(श्),

शारीरके दमशरीर्यपरः(स्) स्वदेहे ।

यत्सृष्टयाऽऽसं(न्) तमहं(म्) पुरुषं(म्) पुराणं(म्),

पश्ये बहिर्हृदि च चैत्यमिव प्रतीतम् ॥ 19॥

प्रभो! संसारके ये पशु-पक्षी आदि अन्य जीव तो अपनी मूढ़ बुद्धिके अनुसार अपने शरीरमें होनेवाले सुख-दुःखा दिका ही अनुभव करते हैं; किन्तु मैं तो आपकी कृपासे शम-दमादि साधनसम्पन्न शरीरसे युक्त हुआ हूँ, अतः आपकी दी हुई विवेकवती बुद्धिसे आप पुराणपुरुषको अपने शरीरके बाहर और भीतर अहङ्कारके आश्रयभूत आत्माकी भाँति प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ।

सोऽहं(वँ) वसन्नपि विभो बहुदुःखवासं(ङ्),

गर्भान्न निर्जिगमिषे बहिरन्धकूपे ।

यत्रोपयातमुपसर्पति देवमाया,

मिथ्यामतिर्यदनु सं(म्)सृतिचक्रमेतत् ॥ 20॥

भगवन्! इस अत्यन्त दुःखसे भरे हुए गर्भाशय में यद्यपि मैं बड़े कष्टसे रह रहा हूँ, तो भी इससे बाहर निकलकर संसारमय अन्धकूपमें गिरनेको मुझे बिलकुल इच्छा नहीं है क्योंकि उसमें जानेवाले जीवको आपकी माया घेर लेती है। जिसके कारण उसकी शरीरमें अहंबुद्धि हो जाती है और उसके परिणाममें उसे फिर इस संसारचक्रमें ही पड़ना होता है।

तस्मादहं(वँ) विगतविक्लव उद्धरिष्य,

आत्मानमाशु तमसः(स्) सुहृदाऽऽत्मनैव ।

भूयो यथा व्यसनमेतदनेकरन्ध्रं(म्),

मा मे भविष्यदुपसादितविष्णुपादः ॥ 21॥

अतः मैं व्याकुलताको छोड़कर हृदयमें श्रीविष्णुभगवान् के चरणोंको स्थापितकर अपनी बुद्धिकी सहायतासे ही अपनेको बहुत शीघ्र इस संसाररूप समुद्रके पार लगा दूँगा, जिससे मुझे अनेक प्रकारके दोषोसे युक्त यह संसार दुःख फिर न प्राप्त हो।

कपिल उवाच

एवं(ङ्) कृतमतिर्गर्भे, दशमास्यः(स्) स्तुवन् नृषिः ।

सद्यः(ह) क्षिपत्यवाचीनं(म्), प्रसूत्यै सूतिमारुतः ॥ 22॥

कपिलदेवजी कहते हैं-माता! वह दस महीनेका जीव गर्भमे ही जब इस प्रकार विवेकसम्पन्न होकर भगवान् को स्तुति करता है, तब उस अधोमुख बालकको प्रसवकालकी वायु तत्काल बाहर आनेके लिये ढकेलती है।

तेनावसृष्टः(स्) सहसा, कृत्वावाक् शिर आतुरः ।

विनिष्क्रामति कृच्छ्रेण, निरुच्छ्वासो हतस्मृतिः ॥ 23॥

उसके सहसा ठेलनेपर वह बालक अत्यन्त व्याकुल हो नीचे सिर करके बड़े कष्टसे बाहर निकलता है। उस समय उसके श्वासको गति रुक जाती है और पूर्वस्मृति नष्ट हो जाती है ।

पतितो भुव्यसृङ्मूत्रे, विष्ठाभूरिव चेष्टते ।

रोरूयति गते ज्ञाने, विपरीतां(ङ्) गतिं(ङ्) गतः ॥ 24॥

पृथ्वीपर माताके रुधिर और मूत्रमें पड़ा हुआ यह बालक विष्ठाके कीड़ेके समान छटपटाता है। उसका गर्भवासका सारा ज्ञान नष्ट हो जाता है और वह विपरीत गति (देहाभिमानरूप अज्ञान-दशा) को प्राप्त होकर बार-बार जोर-जोर से रोता है ।

परैरुच्छन्दं(न्) न विदुषा, पुष्यमाणो जनेन सः ।

अनभिप्रेतमापन्नः(फ्), प्रत्याख्यातुमनीश्वरः ॥ 25॥

फिर जो लोग उसका अभिप्राय नहीं समझ सकते, उनके द्वारा उसका पालन-पोषण होता है। ऐसी अवस्थामें उसे जो प्रतिकूलता प्राप्त होती है, उसका निषेध करनेकी शक्ति भी उसमें नहीं होती ।

शायितोऽशुचिपर्यङ्के, जन्तुः(स्) स्वेदजदूषिते ।

नेशः(ख्) कण्डूयनेऽङ्गाना-मासनोत्थानचेष्टने ॥ 26॥

जब उस जीवको शिशु अवस्थामें मैली-कुचैली खाटपर सुला दिया जाता है, जिसमें खटमल आदि स्वेदज जीव चिपटे रहते हैं, तब उसमें शरीरको खुजलाने, उठाने अथवा करवट बदलने की भी सामर्थ्य न होनेके कारण वह बड़ा कष्ट पाता है ।

तुदन्त्यामत्वचं(न्) दं(म्)शा, मशका मत्कुणादयः ।

रुदन्तं(वँ) विगतज्ञानं(ङ्), कृमयः(ख्) कृमिकं(यँ) यथा ॥ 27॥

उसकी त्वचा बड़ी कोमल होती है; उसे डाँस, मच्छर और खटमल आदि उसी प्रकार काटते रहते हैं, जैसे बड़े कीड़ेको छोटे कीड़े। इस समय उसका गर्भावस्थाका सारा ज्ञान जाता रहता है, सिवा रोनेके वह कुछ नहीं कर सकता ।

इत्येवं(म्) शैशवं(म्) भुक्त्वा, दुःखं(म्) पौगण्डमेव च ।

अलब्धाभीप्सितोऽज्ञाना-दिद्धमन्युः(श्) शुचार्पितः ॥ 28॥

इसी प्रकार बाल्य (कौमार) और पौगण्ड अवस्थाओंके दुःख भोगकर वह बालक युवावस्थामें पहुँचता है। इस समय उसे यदि कोई इच्छित भोग नहीं प्राप्त होता, तो अज्ञानवश उसका क्रोध उदीप्त हो उठता है और वह शोकाकुल हो जाता है ।

सह देहेन मानेन, वर्धमानेन मन्युना ।

करोति विग्रहं(ङ्) कामी, कामिष्वन्ताय चात्मनः ॥ 29॥

देहके साथ-ही-साथ अभिमान और क्रोध बढ़ जानेके कारण वह कामपरवश जीव अपना ही नाश करनेके लिये दूसरे कामी पुरुषोंके साथ वैर ठानता है ।

भूतैः(फ्) पञ्चभिरारब्धे, देहे देह्यबुधोऽसकृत् ।

अहं(म्) ममेत्यसद्ग्राहः(ख), करोति कुमतिर्मतिम् ॥ 30॥

खोटी बुद्धिवाला वह अज्ञानी जीव पञ्चभूतोंसे रचे हुए इस देहमें मिथ्याभिनिवेश के कारण निरन्तर मैं मेरेपनका अभिमान करने लगता है ।

तदर्थं(ङ्) कुरुते कर्म, यद्बद्धो याति सं(म्)सृतिम् ।

योऽनुयाति ददत्क्लेश-मविद्याकर्मबन्धनः ॥ 31॥

जो शरीर इसे वृद्धावस्था आदि अनेक प्रकारके कष्ट ही देता है तथा अविद्या और कर्मके सूत्रसे बँधा रहनेके कारण सदा इसके पीछे लगा रहता है, उसीके लिये यह तरह-तरहके कर्म करता रहता है— जिनमें बँध जानेके कारण इसे बार-बार संसार-चक्रमें पड़ना होता है ।

यद्यसद्भिः(फ्) पथि पुनः(श्), शिश्नोदरकृतोद्यमैः ।

आस्थितो रमते जन्तुस्-तमो विशति पूर्ववत् ॥ 32॥

सन्मार्गमें चलते हुए यदि इसका किन्हीं जिह्वा और उपस्थेन्द्रियके भोगों में लगे हुए विषयी पुरुषोंसे समागम हो जाता है, और यह उनमें आस्था करके उन्हींका अनुगमन करने लगता है, तो पहले सम्मान ही फिर नारकी योनियोंमें पड़ता है।

सत्यं(म्) शौचं(न्) दया मौनं(म्), बुद्धिः(श्) श्रीर्ह्रीर्यशः(ह) क्षमा ।

शमो दमो भगश्चेति, यत्सङ्गाद्याति सङ्क्षयम् ॥ 33॥

तेष्वशान्तेषु मूढेषु, खण्डितात्मस्वसाधुषु ।

सङ्गं(न्) न कुर्याच्छोच्येषु, योषित्क्रीडामृगेषु च ॥ 34॥

जिनके सबसे इसके सत्य, शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), दया, वाणीका संयम, बुद्धि, धन-सम्पत्ति, लज्जा, यश, क्षमा, मन और इन्द्रियोंका संयम तथा ऐश्वर्य आदि सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। उन अत्यन्त शोचनीय स्त्रियोंके क्रीडामुग (खिलौना), अशान्त, मूढ़ देशमदर्शी असत्पुरुषोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये ।

न तथास्य भवेन्मोहो, बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।

योषित्सङ्गाद्यथा पुं(म्)सो, यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥ 35॥

क्योंकि इस जीवको किसी औरका सङ्ग करनेसे ऐसा मोह और बन्धन नहीं होता, जैसा स्त्री और स्त्रियों के सङ्गियोंका सङ्ग करनेसे होता है ।

प्रजापतिः(स्) स्वां(न्) दुहितरं(न्), दृष्ट्वा तद्रूपधर्षितः ।

रोहिद्भूतां(म्) सोऽन्वधाव-दृक्षरूपी हतत्रपः ॥ 36॥

एक बार अपनी पुत्री सरस्वतीको देखकर ब्रह्माजी भी उसके रूप-लावण्यसे मोहित हो गये थे और उसके मृगरूप होकर भागनेपर उसके पीछे निर्लज्जतापूर्वक मृगरूप होकर दौड़ने लगे ।

तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु, को न्वखण्डितधीः(फ्) पुमान् ।

ऋषिं(न्) नारायणमृते, योषिन्मय्येह मायया ॥ 37॥

उन्हीं ब्रह्माजीने मरीचि आदि प्रजापतियोंकी तथा मरीचि आदिने कश्यपादिकी और कश्यपादिने देव-मनुष्यादि प्राणियोंकी सृष्टि की। अतः इनमें एक ऋषिप्रवर नारायणको छोड़कर ऐसा कौन पुरुष हो सकता है, जिसकी बुद्धि स्त्रीरूपिणी मायासे मोहित न हो ।

बलं(म्) मे पश्य मायायाः(स्), स्त्रीमय्या जयिनो दिशाम् ।

या करोति पदाक्रान्तान्, भ्रूविजृम्भेण केवलम् ॥ 38॥

अहो ! मेरी इस स्त्रीरूपिणी मायाका बल तो देखो, जो अपने भ्रुकुटि-विलासमात्रसे बड़े-बड़े दिग्विजयी वीरोंको पैरोंसे कुचल देती है ।

सङ्गं(न्) न कुर्यात्प्रमदासु जातु,

योगस्य पारं(म्) परमारुरुक्षुः ।

मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो,

वदन्ति या निरयद्वारमस्य ॥ 39॥

जो पुरुष योगके परम पदपर आरूढ़ होना चाहता हो अथवा जिसे मेरी सेवाके प्रभावसे आत्मा-अनात्माका विवेक हो गया हो, वह स्त्रियोंका सङ्ग कभी न करें; क्योंकि उन्हें ऐसे पुरुषके लिये नरकका खुला द्वार बताया गया है ।

योपयाति शनैर्माया, योषिद्देवविनिर्मिता ।

तामीक्षेतात्मनो मृत्युं(न्), तृणैः(ख्) कूपमिवावृतम् ॥ 40॥

भगवान्‌की रची हुई यह जो स्त्रीरूपिणी माया धीरे-धीरे सेवा आदिके मिससे पास आती है, इसे तिनकोंसे ढके हुए कुएँके समान अपनी मृत्यु ही समझे ।

यां(म्) मन्यते पतिं(म्) मोहान्- मन्मायामृषभायतीम् ।

स्त्रीत्वं(म्) स्त्रीसङ्गतः(फ्) प्राप्तो, वित्तापत्यगृहप्रदम् ॥ 41॥

तामात्मनो विजानीयात्- पत्यपत्यगृहात्मकम् ।

दैवोपसादितं(म्) मृत्युं(म्), मृगयोर्गायनं(यँ) यथा ॥ 42॥

स्त्रीमें आसक्त रहनेके कारण तथा अन्त समयमें स्त्रीका ही ध्यान रहनेसे जीवको स्त्रीयोनि प्राप्त होती है। इस प्रकार स्त्रीयोनिको प्राप्त हुआ जीव पुरुषरूपमें प्रतीत होनेवाली मेरी मायाको ही धन, पुत्र और गृह आदि देनेवाला अपना पति मानता रहता है; सो जिस प्रकार व्याधेका गान कानोंको प्रिय लगनेपर भी बेचारे भोले-भाले पशु -पक्षियोंको फँसाकर उनके नाशका ही कारण होता है— उसी प्रकार उन पुत्र, पति और गृह आदिको विधाताकी निश्चित की हुई अपनी मृत्यु ही जाने ।

देहेन जीवभूतेन, लोकाल्लोकमनुव्रजन् ।

भुञ्जान एव कर्माणि, करोत्यविरतं(म्) पुमान् ॥ 43॥

देवि! जीवके उपाधिभूत लिङ्गदेह के द्वारा पुरुष एक लोकसे दूसरे लोकमे जाता है और अपने प्रारब्धकर्मों को भोगता हुआ निरन्तर अन्य देहोंकी प्राप्तिके लिये दूसरे कर्म करता रहता है ।

जीवो ह्यस्यानुगो देहो, भूतेन्द्रियमनोमयः ।

तन्निरोधोऽस्य मरण- माविर्भावस्तु सम्भवः ॥ 44॥

जीवका उपाधिरूप लिङ्गशरीर तो मोक्षपर्यन्त उसके साथ रहता है तथा भूत, इन्द्रिय और मनका कार्यरूप स्थूलशरीर इसका भोगाधिष्ठान है। इन दोनोंका परस्पर संगठित होकर कार्य न करना ही प्राणीकी 'मृत्यु' है और दोनोंका साथ-साथ प्रकट होना 'जन्म' कहलाता है ।

द्रव्योपलब्धिस्थानस्य, द्रव्येक्षायोग्यता यदा ।

तत्पञ्चत्वमहं(म्)माना- दुत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम् ॥ 45॥

पदार्थोंकी उपलब्धिके स्थानरूप इस स्थूलशरीरमें जब उनको ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं रहती, यह उसका मरण है और यह स्थूलशरीर ही मैं हूँ- इस अभिमानके साथ उसे देखना उसका जन्म है ।

यथाक्ष्णोर्द्रव्यावयव- दर्शनायोग्यता यदा ।

तदैव चक्षुषो द्रष्टुर्- द्रष्टृत्वायोग्यतानयोः ॥ 46॥

नेत्रोंमें जब किसी दोषके कारण रूपादिको देखनेकी योग्यता नहीं रहती, तभी उनमें रहनेवाली चक्षु-इन्द्रिय भी रूप देखनेमें असमर्थ हो जाती है और जब नेत्र और उनमें रहनेवाली इन्द्रिय दोनों ही रूप देखनेमें असमर्थ हो जाते हैं, तभी इन दोनोंके साक्षी जीवमें भी वह योग्यता नहीं रहती ।

तस्मान्न कार्यः(स्) सन्त्रासो, न कार्पण्यं(न्) न सम्भ्रमः ।

बुद्ध्वा जीवगतिं(न्) धीरो, मुक्तसङ्गश्चरेदिह ॥ 47॥

सम्यग्दर्शनया बुद्ध्या, योगवैराग्ययुक्तया ।

मायाविरचिते लोके, चरेन्न्यस्य कलेवरम् ॥ 48॥

अतः मुमुक्ष पुरुषको मरणादिसे भय, दीनता अथवा मोह नहीं होना चाहिये। उसे जीवके स्वरूपको जानकर धैर्यपूर्वक निःसङ्गभावसे विचरना चाहिये तथा इस मायामय संसारमें योग-वैराग्य-युक्त सम्यक् ज्ञानमयी बुद्धिसे शरीरको निक्षेप (धरोहर) की भाँति रखकर उसके प्रति अनासक्त रहते हुए विचरण करना चाहिये ।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहं(म्)स्यां(म्) सं(म्)हितायां(न्)

तृतीयस्कन्धेकापिलेयोपाख्याने जीवगतिर्नाम एकत्रिं(म्)शोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः(श्)शान्तिः(श्)शान्तिः ॥